वचनामृत

महात्मा श्री नारायणदास जी

पूज्य महात्मा श्री नारायणदास जी द्वारा व्यक्त

व
च
ना
मृ
त

द्वितीय संस्करण
२०१०

गुरूपूर्णिमा
२५ जुलाई २०१०

मूल्य पन्द्रह रूपये

नम्र निवेदन

मानव की अधिकतर आकांक्षाएँ भौतिक सुख की ओर रहती हैं, किन्तु, परम पूजनीय संत महात्माओं के अमृतमय वचनों द्वारा मार्गदर्शन से जब वे परमानन्द की ओर मोड़ दी जाती हैं तब जीवन आनन्दमय बन जाता है, जीवन का सही उद्देश्य अधिक स्पष्ट हो जाता है और उसकी पूर्ति के लिये मानव दृढ़तापूर्वक प्रयत्न करने लगता है। फलतः, व्यक्ति की प्रगति होती है और उसकी प्रगति उसके परिवार, समाज एवं राष्ट्र की उन्नति में योग देती है। अस्तु, लोक-कल्याणकारी विचार-धारा जगत को सक्षम बनाने के हेतु अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

परम पूज्य महात्मा श्री नारायणदास जी महाराज, श्री भारतीय विद्यालय, षिवपुरी, ग्वालियर संभाग, मध्यप्रदेश की गणना भी ऐसे ही संत महात्माओं में से है। आपके व्यक्तिगत दैनिक वार्तालाप, पत्र-व्यवहार एवं साप्ताहिक प्रवचनों द्वारा जीवन को सफल बनाने एवं मार्गदर्शन करने

वाली विचारधारा की पवित्र गंगा नित्य ही प्रवाहित होती रहती है। सम्पर्क में आने वाले परिवारों के सभी आबाल-वृद्ध साधक आत्मानुभूति कर शांति का अनुभव करते हुए कर्त्तव्य-पालन सुचारू रूप से करते हैं। अस्तु, आपके द्वारा व्यक्त हुई समय समय की विचारधारा से जनसाधारण भी लाभ उठा सके इस लक्ष्य से पूज्य श्री महात्माजी से प्राप्त कृपा प्रसाद रूपी पत्रों के अंशों का "वचनामृत" के रूप में श्री रा.ना. होलकर परिवार द्वारा संकलित किया गया था। और अब यह भैंट पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है।

निवेदक,

मदनलाल गुप्ता एडवोकेट

मंत्री,

सत्संग मण्डल शिवपुरी

(मध्यप्रदेश)

पूज्य महात्मा श्री नारायणदास जी महाराज द्वारा व्यक्त वचनामृत

(१)

परम पिता परमात्मा की यानी सर्वशक्तिमान सत्ता की प्रकृति के विधान में हस्तक्षेप अथवा टीका टिप्पणियाँ न करना परमात्मा के भक्तों का यानी मानवों का धर्म है। वे उसके आदेशों का सहर्ष पालन करें। चाहे वे आदेश उनकी रुचि के हों अथवा न हों। संसार में एकमात्र शांति का साधन परमात्मा का नाम है, यानी उसको हम सर्वेसर्वा एवं सर्वव्यापी समझें और जीवन के उतारचढ़ाव में न बह कर उसकी प्रकृति द्वारा दिये गये कर्तव्य का प्रसन्नचित से विश्वासपूर्वक पालन करते रहें।

(२)

प्रकृति का यह नियम है कि जिन संस्कारों के मध्य हम अधिक रहते हैं उनके भाव मस्तिष्क में अपना- अपना स्थान बना लेते हैं। फलतः वे ही विचार बार-बार आते हैं। अस्तु, प्रकृति से प्रेरणा मिलती है कि शुभ संस्कारों को पनपाने के लिये शुभ वातावरण में अधिक रहना चाहिए। वातावरण दो प्रकार से बनता है। एक तो शुभ संस्कार वाले व्यक्तियों में बैठने, उठने से; दूसरे महापुरुषों के जीवन-चरित्र एवं अन्य प्रेरणात्मक साहित्य आदि के पढ़ने से। अतएव, मानव का धर्म है कि वह अपनी दिनचर्या में दोनों तथ्यों का समावेश कर ले।

(३)

जिस शक्ति ने प्राणी को जीवन दिया है, जिसने शरीर के प्रत्येक अवयव की रचना की है, जिसकी सत्ता से रक्त का संचालन होता है, वस्तुतः वही सत्ता प्राणी की स्वामिनी है। अस्तु, जब मानव यह कहता है कि, "यह शरीर मेरा है, यह स्त्री मेरी पत्नि है, यह मेरा पुत्र है, ये मेरी चल एवं अचल सम्पत्तियां हैं" तब वह मानव मिथ्याचारी है। जो व्यक्ति दूसरे की सम्पत्ति का अपहरण करता है वह कदापि सुखी नहीं रह सकता। जिस व्यक्ति को प्रभुसत्ता ने अपने परिवार के पालन पोषण के लिये निमित्त बनाया है, उस परिवार को प्रभु सत्ता का ही सदैव समझे। उसमें अपनापन कभी न लावे। साथ ही, उसकी देखरेख में कुछ भी कसर न रखे। ऐसा व्यक्ति मालिक का भक्त है, सच्चा सेवक है।

(४)

निस्सन्देह, सत्संग का महत्व सर्वोपरि है। सत् कहते हैं उसे जो सदैव एकसा रहे, कभी भी न बदले, अर्थात् भूत, भविष्य, वर्तमान में एकसा रहे। वस्तुतः सत् यानी सत्य ही अविनाशी, सच्चिदानन्द है और उसका जो संगी है वह है प्राणी का जीवात्मा। अस्तु, साक्षी रूप से घट-घट में विद्यमान रहने वाले सच्चिदानन्द ब्रह्म के साथ जब जीवात्मा रहने लगे तब यह सत्संग सार्थक कहा जाता है।

(५)

प्रकृति द्वारा की गई शरीर रचना प्राणीमात्र के लिये एक सी है। केवल विचारों की भिन्नता के कारण व्यक्तियों में अंतर दिखाई देता है। यह रहस्य सत्संग में ही स्पष्ट होता है।

(६)

सत्संग में जब वास्तविकता स्पष्ट हो जाती है तब मानव ममता, मोह से मुक्त होकर केवल ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्त्तव्यपालन करता है। किसी भी प्राणी को अपना नहीं कहता। सब व्यक्तियों को प्रकृति का भक्त समझता है। स्वयं भी प्रकृति का भक्त होकर कर्त्तव्य-पालन करता है। जिस व्यक्ति को जिस व्यक्ति के उत्तरदायित्व में प्रकृति ने जन्म दिया है उसके प्रति वह व्यक्ति यानी वह भक्त जीवन-पर्यन्त उत्तरदायी रहता है। और जब उस पर से जिसका उत्तरदायित्व प्रकृति उठा लेती है तब उसकी चिंन्ता से वह मुक्त हो जाता है। अस्तु, जैसे प्रकृति रखे वैसे ही रहे और सदैव ही प्रत्येक दशा में उसपर अटल विश्वास रखे।

(७)

सत्संग परमावश्यक है। सत्संग में बुद्धि निखरती है। सद्‌बुद्धि से ही बाहरी अड़चनों में सावधानी बरती जाती है। और यही मानव को प्रसन्न रखते हुए उसे उत्तरोत्तर प्रगति करने में सहयोग देती है।

(८)

यदि मर्यादा पुरुषोत्तम राम के चित्र के सामने एक परिवार के सभी प्राणी (पिता, माता, पुत्र, पुत्रवधु, भाई, बहिन, दादा, दादी, नाना, नानी, ताऊ, और चाचा आदि) स्तुति करें और कहें कि, "तू ही माता है और तू ही पिता है" तो सब लोग सहर्ष पुरुषोत्तम राम को ही माता-पिता कहेंगे। उन्हें ऐसा कहने में किंचित भी संकोच न होगा। अब यदि विचार किया जाय तो स्पष्ट अनुभव होगा कि परिवार के प्रत्येक प्राणी के

माता-पिता एक राम ही हैं। तब वे सब आपस में कौन हुए ? उनकी ही सब सन्तानें हुईं, यानी प्रत्येक प्राणी आपस में भाई, बहिन हुए अथवा यूं कह सकते हैं कि परिवार के सब प्राणी पुरुषोत्तम राम की भक्त-मडण्ली के सदस्य हैं, जो अपना-अपना अभिनय कर रहे हैं या कर रही हैं। न कोई माता है न पिता, न भाई है न बहिन और न पुत्र है न पुत्री। किन्तु, लोक व्यवहार की सुगमता के लिये पिता, पुत्र, माता, पत्नि; आदि संज्ञा दी गई है। यदि बचपन से ही मानव को ऐसा अभ्यास कराया जाता जैसाकि वास्तव में है तो उसे न तो माया सताती और न मोह सताता।

(६)

इस शरीर की रचना प्रकृति ने इस प्रकार की है कि जीव प्रत्यक्ष में तो ऐसा कहे कि "मैं खा रहा हूं या मैं खा रही हूं, मैं पी रहा हूं या मैं पी रही हूं।" पर वस्तुतः उसे अरबों जीवों को दैनिक खिलाना-पिलाना पड़ता है। क्योंकि एक बूँद रक्त में पाँच लाख जीवित कोषाओं का अस्तित्व है और सब शरीर रक्त से युक्त है, अर्थात सारे शरीर में जीव रहते हैं। अस्तु, नामधारी मानव की त्वचा ऐसी है जैसे कि चादर जिससे वे जीव ढके रहते हैं। वस्तुतः हमें भोजन करना ही नहीं होता वरन् जीवों को भोजन कराना होता है।

(१०)

प्रकृति के प्रत्येक अनुयायी को विश्वास होता है कि ज्ञात अथवा अज्ञात रूप में बिना प्रकृति की सत्ता के पत्ता भी नहीं हिलता। साथ ही, व्यक्ति के विचार बाह्य वातावरण में व्याप्त विचारों से प्रभावित होकर

कार्य करते हैं। हाँ, सत्ता जिससे वे कार्य करते हैं निर्माणकर्तृ शक्ति की ही है यानी प्रकृति की है।

(११)

प्रत्येक कार्य प्रकृति की सत्ता से हो रहा है। किन्तु, मानव के मस्तिष्क में जन्म से ही ऐसे संस्कार पड़ जाते हैं कि वह यही समझता है कि प्रत्येक कार्य वही कर रहा है। यह सब वातावरण का ही प्रभाव है। यह संस्कार, यानी "मेरेपन का भाव" विचारों के द्वारा बड़ी कठिनाई से दूर हो पाता है। और मानव "मेरे-तेरे" के चक्र में पिसता हुआ दुखी होता रहता है। हाँ, जब निर्माण-कर्तृ शक्ति की कृपा से आत्म-साक्षात्कार होता है तब यदि मानव चाहे तो बड़ी सरलता से प्रकृति को कार्य करते हुए अनुभव कर सकता है।

(१२)

सचमुच, प्रशंसा एवं निन्दा आदि के शब्दों में वर्ण मात्र ही तो हैं जो वर्णमाला के बाहर नहीं। अस्तु, बुद्धिमान व्यक्ति प्रशंसा एवं निन्दा के शब्दों को केवल वर्णमाला के अक्षर मानता है जो उलट-पलट कर रख दिये गये हैं। इस प्रकार वह अपने मानसिक संतुलन को गिरने नहीं देता। सत्य ही, सहज प्रकृति व्यक्ति को प्रशंसा एवं निंदा से सदा ही दूर रखती है। यह उसका स्वभाव है।

(१३)

यदि मानव सूक्ष्म दृष्टि से अनुभव करे तो वस्तुतः वह जगत का एक भाग है। और वह भाग जगत से पृथक नहीं वरन् भिन्न-भिन्न आकार वाले जगत का ही वह अविभाजित अंग है। अस्तु, सभी जगत के आकार उसी की ही सूरतें हैं। ऐसी स्थिति में व्यक्ति का अस्तित्व एक बटा जगत (१/जगत) है। और जगत के समस्त प्राणी भिन्न-भिन्न आकार के होते हुये भी उसी के रूप हैं। परिणामतः बुद्धिमान व्यक्ति

अपने रूप को सर्वत्र देखता है।

(१४)

वस्तुतः जगत के समस्त प्राणी जगत रूपी वृक्ष के पत्ते हैं और वृक्ष की जड़ प्रभुसत्ता है। पत्ते स्वस्थ रहकर वृक्ष की जड़ को वायु प्रदान करते हैं और वृक्ष की जड़ उसे पूर्ण आयु भर स्वस्थ रखती है। पत्ते के झड़ते ही उसी के स्थान पर नया अंकुर निकलता है। और वह उचित समय लेकर पत्ते का रूप पुनः धारण कर लेता है। विचारणीय यह है कि जगत रूपी वृक्ष को स्वस्थ वायु प्रदान करने के लिये क्या कोई श्रेष्ठ पत्ता प्रचार करता है? क्या कोई पत्ता सुधारक बनता है? कदापि नहीं। उसका स्वयं स्वस्थ रहना ही स्वस्थ वायुमण्डल निर्माण करने में सहायक है। अस्तु, हम जगत को दुखी देख कर दुखी होते हैं तो जगत को और भी दुखी बनाते हैं। हमारा धर्म प्रकृति के आश्रय से उसके मार्गदर्शन के अनुसार स्वयं को ही आदर्श व्यक्ति के रूप में उपस्थित करना है। हमारा स्वस्थ आचरण ही अनुकरणीय हो जावेगा और सुधारक के कार्य की पूर्ति कर देगा। हाँ, अनुकरण वही करेगा जो अपने संस्कारानुसार उस दिशा की ओर अग्रसर होने को आकर्षित होगा।

(१५)

निस्सन्देह, बुद्धिमान व्यक्ति जानता है कि कर्मों के परिणाम अदृश्य शक्ति की सत्ता के द्वारा उचित समय पर ही व्यक्त हुआ करते हैं। अस्तु, वह कभी निराश नहीं होता। उसकी मनोवृत्ति स्वाभाविक हर्ष एवं उत्साह से प्रतिक्षण उचित कार्य करती है, ऐसी स्थिति को ही वस्तुतः संतोष की अनुभूति कहते हैं।

(१६)

यदि विचार किया जाय तो प्रत्येक प्राणी को जगत का एक भाग कहा जा सकता है। अस्तु, जगत के किसी भाग के द्वारा किया गया काम

जगत का ही तो काम है। इसी प्रकार हाथ से काम हुआ है तो भी जिसका वह हाथ है उसी का काम है और उसके पैर से हुआ है तो भी उसी का काम है। अतएव ऐसी परिस्थिति में हाथ का पैर या पैर का हाथ आभारी नहीं कहा जाता। जब आवश्यकता आती है तब हाथ सहायक हो जाता है पैर का और पैर हाथ का। वास्तव में, जिसे व्यक्ति तुच्छ सेवा कहता है वह है स्वाभाविक धर्म और उसके लिये चाहिये अन्तःकरण की शुद्धता यानी छल, कपट रहित व्यवहार। सरल स्वभाव अपेक्षित है। इस सरल स्वभाव की दूसरों से अपेक्षा करना व्यावहारिक नहीं। अस्तु, साधक, सुध ारक नहीं बनता। वह तो स्वयं को यानी अपनी प्रकृति को ही सरल बनाने के वातावरण में मस्त रहता है। यह स्थिति, जो सुधार करना चाहता है उसके लिये सुखद सिद्ध होती है और चित्त के शांत रहने में सहायक होती है।

(१७)

संकल्प हठ से पूर्ण नहीं होते। वे पूर्ण होते हैं अनुकूल वातावरण से। अस्तु, अनुकूल वातावरण का निर्माण किया जाना कार्यसिद्धि में सर्वप्रथम अपेक्षित है।

(१८)

प्रकृति में तीनों गुण–सत्व, रज और तम हैं। इनकी तरंगें सदैव मस्तिष्क में प्रवाहित होती रहती हैं और ये तरंगें बाह्य वातावरण की शब्दतरंगों से प्रभावित होती हैं। अस्तु, मानव की दिनचर्या में जो मानसिक उतार–चढ़ाव आता रहता है वह इन्हीं तरंगों के संघर्ष के कारण है। जो तरंगें प्रचुर मात्रा में होती हैं वे अल्प मात्रा की तरंगों को परास्त कर अपना प्रभुत्व जमा लेती हैं। जन साधारण इसी तथ्य को यूं कहता है कि कभी तो उसे उसकी विचारधारा के अनुकूल काम होता दिखाई दता है और कभी प्रतिकूल और फिर कभी अनुकूल। इस प्रकार चित्तवृत्ति बदलती रहती है, एक सी नहीं रहती।

(१९)

परीक्षार्थी-छात्र परीक्षा की अंतिम तिथि तक कर्त्तव्य पालन करता रहे। परीक्षाफल क्या होगा इसके चिन्तन में समय नष्ट न करे। शक्ति के आश्रित रहकर वर्तमान का सदुपयोग करना ही भविष्य के सुन्दर परिणाम का निर्माण करना है।

(२०)

पूर्व पड़े संस्कारों की तरंगें शरीर के जीवित रहने तक मस्तिष्क में सदैव ही रहती हैं। क्योंकि उनका अस्तित्व मस्तिष्क के कोषों में समा चुका है। हाँ, नवीन संस्कारों की तरंगों की प्रचुरता उन्हें दबा अवश्य देती है। यदि पूर्व का असत् संस्कार प्रबल होता हुआ अनुभव हो तो तत्काल यह समझ लेना चाहिये कि पूर्व विद्यमान संस्कार किसी कारण से तरंगित हो उठा है। अब उसकी कोई आवश्यकता नहीं। अतएव तत्काल दूसरे उपयोगी विचारों का चिन्तन आरंभ कर देना चाहिये। ऐसा करने से गलत संस्कार पुनः दब जावेगा। यदि कहीं यह संस्कार क्यों उदय हुआ है, इसे नहीं आना चाहिये आदि विचारों द्वारा चिन्तन आरंभ कर दिया तो वह और भी प्रबल हो जावेगा।

(२१)

जो कोई भी चाहे उसे यह तथ्य प्रत्यक्ष अनुभव हो सकता है कि शरीर के अवयव तो औजार के समान हैं, विचार हैं मजदूरों के सदृश और जो विचारों को आदेश देता है वह स्वयं जीवात्मा के रूप में मालिक के समान है। उसके आदेश से ही विचारों के द्वारा शरीर के अवयवों से कार्य होता दिखलाई देता है। और जो प्रत्येक क्रिया को अनुभव करता रहता है उसे साक्षी कहते हैं। व्यक्ति अन्य व्यक्तियों को धोखा दे सकता है किन्तु वह स्वयं को धोखा नहीं दे सकता। जिस सत्ता को हम धोखा नहीं दे सकते और जो स्वयं कुछ भी नहीं करती किन्तु जानती सब है

उसी सत्ता को वस्तुतः साक्षी कहते हैं। यह साक्षी ही है जिसके वे सब लक्षण हैं जो आत्मा के लक्षण होते हैं। इसका अस्तित्व प्रत्येक व्यक्ति में पृथक-पृथक नहीं है। जैसे वायु सर्वत्र विद्यमान है वैसे ही आत्मा सर्वत्र-प्राणी के भीतर, बाहर और चारों ओर व्याप्त है। अणु-अणु में व्याप्त है। वस्तुतः वायु से भी अत्यन्त सूक्ष्म है। उसके पृथक-पृथक भाग नहीं हैं। केवल एक ही अखण्ड इकाई है। अस्तु, प्राणियों के देह त्यागने पर अथवा देह धारण करने पर न तो वह जाती है और न आती है। जैसे घड़े में वायु भरी है। यदि घड़ा फूट जावे तो वायु कहीं निकल कर जाती नहीं है अथवा नवीन घड़े के बनाये जाने पर कहीं से उसमें वायु भरी नहीं गई है। वायु सदा एक ही इकाई में बहती रहती है। ऐसे ही आत्मा अखण्ड इकाई है। वह भी अमर है। उसका जन्म, मरण से कोई संबंध नहीं।

फिर आता-जाता कौन है? एकमात्र उत्तर है, " इच्छा की तरंगें यानी शब्दों की ध्वनियाँ"। इच्छा से ही व्यक्ति का कहीं को आना-जाना होता हैं। इच्छा का स्वभाव है कि वह एक से अनन्त भी हो सकती हैं। जैसे-जैसे प्राणियों की इच्छायें बढ़ती जाती हैं। उनकी संख्या भी बढ़ती जाती है। इच्छाएँ कितनी बढ़ती जा रही हैं यह तथ्य सभी जानते हैं। प्राणियों के मुख से निकले शब्दों की तरंगें सदा ही आकाश में व्याप्त रहती हैं। सृष्टि के आरंभ से अब तक जितने शब्द निकले हैं, निकल रहे हैं अथवा आगे निकलेंगे उनकी तरंगें सदैव आकाश में अपना अस्तित्व रखेंगी। इन तरंगों के मिश्रित समूह को बड़ी माया (Cosmicmind) समझना चाहिये। इन तरंगों से प्रभावित होकर एक-एक प्राणी के मस्तिष्क की तरंगें यानी छोटी माया (Unit mind) प्रभावित होती हैं। प्राण शक्ति भी आत्मा के सदृश सर्वत्र व्याप्त है और इसकी भी एक ही इकाई है, पृथक-पृथक भाग नहीं। अस्तु, प्राणशक्ति की सहायता से इच्छाओं की पूर्ति हेतु शरीरादि की रचना स्वयं ही होती रहती है। इस सब रचना की

क्रिया को प्रकृति का कार्य कहते हैं। वस्तुतः जन्म-मरण की क्रिया प्रकृति से होती है। हां, आत्मा को प्रकृति की प्रत्येक क्रिया की अनुभूति सदैव रहती है। क्योंकि वह सर्वत्र व्याप्त है। इसीलिये यह कहा जाता है कि आत्मा साक्षी है, नित्य है। उसका जन्म-मरण नहीं होता।

(२२)

चोटी भारतीय संस्कृति का द्योतक है। व्यक्ति को मानवता के शिखर पर चढ़ने के लिये दृढ़ प्रतिज्ञ होना चाहिये। दैनिक चोटी में गांठ लगाना एक प्रकार से प्रतिज्ञा को बल देना है। अतः आर्य संस्कृति को जीवित रखने के लिये चोटी रखना उचित है। यदि अज्ञान से कोई उपहास करता है यानी टीका-टिप्पणी करता है तो उसमें भय नहीं। जो अज्ञानी लोगों के उपहास से नहीं डरता और अपनी संस्कृति का हामी है वह शिखा का आदर करेगा।

(२३)

संत ज्ञानेश्वर जी ने दीवाल को चलाई यह तो संभवतः दंतकथा की रोचकता है। यदि कोई उस घटना का साक्षी है तो उसका देखना मेसमरेजिम या हिपनो-टिज़्म की जैसी क्रिया है जिसका आधार मस्तिष्क के विचारों की एकरूपता मात्र है। ज्ञानी की दृष्टि में एक कला का प्रदर्शन है। हाँ, अज्ञानी के लिये चमत्कार है। जिसको आत्मा का वास्तविक दर्शन नहीं है और जो अहंभाव को बढ़ाने वाली प्रतिष्ठा से आकर्षित है। वस्तुतः ज्ञानी की दृष्टि में दीवाल में अत्यन्त सूक्ष्म रूप में चेतनता है और चेतन वस्तु हरकत कर सकती है। अतः ज्ञानी संत ज्ञानेश्वर ने 'दीवाल चलाई' का अर्थ यही है कि उन्हें प्रत्येक वस्तु में चेतनता का आभास होता था।

(२४)

जिज्ञासु वृत्ति अच्छी है। उससे दोनों ही लाभान्वित होते हैं जिज्ञासु भी और जिज्ञासा को समाधान करने वाला भी। हाँ, जिज्ञासा में कुतर्क को

स्थान नहीं। स्वस्थ तर्क का स्वागत होना चाहिये।

(२५)

प्रत्येक व्यक्ति ईश्वर का एक अंश है। वह अंश अपने पूर्ण रूप को प्राप्त करना चाहता है। अस्तु, ज्यों-ज्यों ही अधिक व्यक्तियों से उसका संबंध बढ़ता जाता है त्यों-त्यों ही उसकी समझदारी भी बढ़ती जाती है। जब उसे समस्त प्राणियों के रूप मिलकर अपना एक रूप ही अनुभव होता है तब वह पूर्णता को प्राप्त हो जाता है। प्राणीमात्र का ज्ञान उसे अपना ही ज्ञान अनुभव होता है। इस स्थिति में व्यक्ति के ज्ञान की अंतिम सीमा आ गई है ऐसा कहा जाता है।

(२६)

जड़ और चेतन ये नाम लौकिक दृष्टि से हैं। वस्तुतः जड़ और चेतन मिलकर ही प्रत्येक प्राणी का रूप है। स्थूल शरीर जड़ है और विचारादि अन्य तत्व चेतन है। जैसे प्राण शक्ति मानव में है वैसे ही वह प्रत्येक वस्तुत में है। चेतन शक्ति के अत्यन्त सूक्ष्म रूप में परिणत होने पर ही वृक्ष सूखता है और पत्थर की शिला का रूपान्तर होता है। पत्थर में भी चेतनता है अवश्य, पर है इतनी सूक्ष्म कि स्पष्ट नहीं भान होती। वस्तु कड़ी हो जावे और फिर नरम हो जावे यह चिन्ह चेतनता का ही है। पत्थर जब खान से निकलता है बहुत ही नरम होता है। बाहर आते ही हवा के लगने से कड़ा जाता है। वर्षा में पड़े रहने पर दो चार वर्ष में इतना कड़ा को जाता है कि उस पर टांकी का काम कठिन हो जाता है। और फिर कारीगर पानी डाल-डाल कर उसे नरम करता है। तब कहीं उस पर टांकी चला पाता है। प्राणी की खुराक में चेतनता आवश्यक है तभी तो उसे वह चेतनता प्रदान करती है। मुर्गी एवं तीतर आदि की खुराक में रेत, कंकर आदि सम्मिलित हैं। अतः रेत, कंकर, पत्थर आदि में भी चेतनता है। अस्तु, प्रत्येक वस्तु में बारीकी से अध्ययन करने पर शक्ति का अनुभव हो सकता है। यही कारण है कि शक्ति के बिना पत्ता

भी नहीं हिल सकता कहा जाता है।

(२७)

यदि कोई हमें बुरा कहता है तो हम उसके कहने का बुरा नहीं मानते। हम तो ऐसा ही सोचते हैं कि यदि उसका कहना सत्य है तब तो हमें अपनी बुराई हटाना चाहिये। अस्तु, कटु वचन कहने वाले हमारे हितैषी हैं जो हमें शुद्ध करने की शिक्षा दे रहे हैं। और यदि उनका कहना असत्य है तो हम उन्हें "सावधानी से चलाओ" सम्बोधन करने वाले बोर्ड के सदृश समझते हैं जो हमें सावधान कर रहा है कि आगे खतरा है यानी हमारे द्वारा आगे कभी वैसा आचरण हो सकता है जैसाकि इस समय हमसे कहा गया है। अतएव दोनों स्थितियों में शब्दों के प्रहारों से व्याकुल न होकर हमें भविष्य में सावधान रहना है और भविष्य को उज्जवल बनाने के लिये वर्तमान को स्वस्थ रखना है।

(२८)

इस जगत का स्वामी परमात्मा जगन्नाथ है और वह घट-घट वासी है यानी वह प्रत्येक प्राणी में व्याप्त है। अतः सम्पूर्ण प्राणी मिलकर जगत का एक ही अस्तित्व है और जगत का स्वामी भी उसी में व्याप्त जगन्नाथ भी एक ही है। देखने में ही जगत भिन्न-भिन्न प्राणियों में विभक्त हुआ अनुभव होता है। अस्तु, एक-एक प्राणी वस्तुतः सम्पूर्ण जगत का अविभाजित एक-एक अंग है। अज्ञान वश हम दूसरे लोगों को अपने से पृथक समझते हैं। अज्ञानीजन इस तथ्य को नहीं जानते कि शेष जगत के प्राणी उनसे भिन्न नहीं हैं। यदि अज्ञानी ज्ञानवान् को परेशान करते हैं तो वह परेशान नहीं होता। उनसे प्रेम ही करता है और उनके विकारों को अपने ही विकार समझकर ऐसे दूर करता है जैसे अपने शरीर में हुए फुन्सी फोड़ों के दुःख को दूर किया जाता है। दर्द संहता रहता है और प्रेम का मरहम लगाता रहता है। साथ ही उन्हें हाथ से छूता नहीं

और उन्हें खुजलाता भी नहीं यानी उनके सम्पर्क में कम से कम रहने का प्रयत्न करता है। उनसे कटु शब्द भी नहीं कहता और साथ ही अपने अन्तःकरण में उनके विचारों को स्थान भी नहीं देता। जो चिढ़ता है उसे और भी चिढ़ाया जाता है और जो चिढ़ता ही नहीं उससे चिढ़ाने वाला स्वयं ही निराश हो जाता है।

(२९)

जिसे अज्ञान से व्यक्ति गलती मानता है वह वस्तुतः गलती नहीं होती। वह तो उसके लिये ठीक मार्ग पर सुगमता से चलने की एक सीढ़ी है। ऐसी सीढ़ियों को पार कर (चढ़कर) ही व्यक्ति जीने पर पहुँचता है जहां से वह ऊपर और नीचे दोनों ओर ही अच्छी तरह से दृष्टि डालकर वास्तविक रूप को देखने की सामर्थ्य प्राप्त करता है।

(३०)

प्रकृति की रचना में प्रत्येक वस्तु का पृथक अस्तित्व है। अस्तु, प्रत्येक मानव भी मूलतः अपना पृथक अस्तित्व रखता है। चाहे कितना भी निकट का संबंधी क्यों न हो यदि उसके द्वारा दूसरे का कुछ भी हित होता है तो उस हित की जड़ में उसका हित ही छिपा हुआ अनुभव में आवेगा। भले ही उसका हित सत्वगुण प्रधान ही क्यों न हो। इस मनोवृत्ति से यही शिक्षा मिलती है कि मानव अपनी आवश्यकता दूसरे के लिये इस सीमा तक अनुभव करा दे कि उसकी आवश्यकता को वह अपनी निजी आवश्यकता समझने लगे तभी उस व्यक्ति से अपने कार्य में सहयोग की कुछ अपेक्षा करना चाहिये अन्यथा कुछ दिनों के ही सम्पर्क के उपरांत अपने को दूसरे के प्रति बनी हुई धारणा में परिवर्तन करना होगा। यह एक कसौटी है जिसकी सहायता से प्रत्येक हस्तगत कार्य को कस कर देखने से मानव जागरूक बन सकता है और वह अपनी समस्याओं को अपने सही दृष्टिकोण से सावधानी पूर्वक हल कर सकता है।

(३१)

जो कार्य अहंभाव से रहित होकर किन्तु अन्तः प्रेरणा से किया जाता है उस कार्य को करने के लिये किसी की भी स्वीकृति की आवश्यकता नहीं। उस कार्य को ठीक ही समझना चाहिये। फिर भी यदि प्रेरणा हो तो संबंधित व्यक्ति की भी सम्मति ले लेना अनुपयुक्त नहीं।

(३२)

सत्संग की बातें सत्संग में छोड़ दोगे तो काम नहीं चलेगा। उनको अपनाओ। शाक, सब्जी छींके पर रखी न रहने दो। उन्हें बनाओ, खाओ और पचाओ। सत्संग की बातों पर मनन करो, विचार करो और उन्हें जीवन में उतारो।

(३३)

मानव के विकास के लिये सत्यं, शिवं और सुन्दरम् विचारों का वातावरण परमावश्यक है। अस्तु, सत्संग की सार्थकता अपेक्षित वातावरण निर्माण करने में निहित है।

(३४)

मानव न तो पुण्यात्मा है न पापी। प्रकृति के कार्य को अपने ऊपर आरोप करके वह ऐसा कहता है। प्रकृति मानव की है अवश्य, किन्तु, मानव स्वयं प्रकृति नहीं। वह तो निर्विकारी, सच्चिदानन्द है।

(३५)

निर्बल विचार हटाने से हटते नहीं, और अधिक पुष्ट होते हैं। उन्हें सबल विचारों की अधिकता से प्रभावहीन अवश्य किया जा सकता है।

(३६)

परमात्म-सत्ता की शक्ति से प्रत्येक प्राणी शक्तिमान है। इस शक्ति की पूर्ण जानकारी से स्वधर्म-पालन उत्तम रीति से हो सकता है।

(३७)

भक्त कहलाने का अधिकारी वह मानव है जो कर्त्तव्य-पालन करते समय स्वयं को न तो दीन समझे, न दुखी। साथ ही दूसरों को भी उस जैसा मस्त रहकर स्वधर्म पालन करने की प्रेरणा उससे मिले।

(३८)

नामी यानी देहधारी महापुरुष की भक्ति सुख देती है और जिस नाम की शक्ति से देहधारी महापुरुष कहलाया उस नाम की भक्ति भी सुख देती है। किन्तु, नामी के भक्त का सुख अस्थाई होता है और नाम के भक्त का सुख स्थाई। अस्तु, संतों ने नाम का माहात्म्य नामी से अधिक बताया है।

(३९)

जब मानव को सुख, शांति प्राप्त नहीं होती तब वह शास्त्रों के अनुसार भगवान की पूजा करता है। परन्तु जब भगवान सामने दिखाई नहीं देते तब वह उनकी उपासना कैसे करे! अतः पूजा केवल भगवान में रुचि उत्पन्न करने के लिये है। शांति चाहते हो तो कर्त्तापन को छोड़ो। भगवान को कर्त्ता बनाओ और फिर उसके लिये कर्म करो।

(४०)

जिस सत्ता ने हमको उत्पन्न किया है उसके लिये ही कर्म करना वस्तुतः उस सत्ता की पूजा है। जो इस प्रकार सत्ता की पूजा करता है वह उस सत्ता का भक्त है और वह उसे प्रिय है।

(४१)

मानव कार्य के आरंभ में बहुत नम्र होता है। परन्तु जब उसे सिद्धि प्राप्त हो जाती है तब वह गर्व करने लगता है जिससे विकास रुक जाता है। यदि वहं सदैव ही नम्र बना रहे तो उत्तरोत्तर विकास का मार्ग खुला रहेगा।

(४२)

विचारों की विभिन्नता होते हुए भी प्राणशक्ति सब प्राणियों में एक ही है। जैसे वायु की एक ही इकाई है और वह समस्त प्राणियों को श्वास प्रदान करती है। अस्तु, विवेकीजन जिन्हें अपने प्राण प्यारे हैं वे सभी प्राणियों से स्वाभाविक प्रेम करते हैं।

(४३)

प्राण सब को प्रिय हैं, किन्तु, जिस शक्ति के आधार पर प्राणों का अस्तित्व है यदि उससे प्रेम किया जाय यानी हर समय उसी के लिये काम किया जाय तो प्रेम सार्थक हो जावे।

(४४)

मानव अपनी प्रकृति के कार्य में अज्ञानवश हस्तक्षेप करके अपने मार्ग में स्वयं ही अड़चने खड़ी कर लेता है। अस्तु, मानव का धर्म है कि वह अपने को और अपनी प्रकृति को ठीक-ठीक जान कर अज्ञान को दूर करे।

(४५)

सुख के साथ दुःख जुड़ा है। यदि सुख चाहोगे तो दुःख भी भोगोगे, सुख से ऊपर उठने का प्रयास करोगे तो शांति का भी अनुभव कर सकोगे।

(४६)

आशा जीवन है और निराशा मृत्यु है। आशा-निराशा से परे जीवन-मुक्त स्थिति है।

(४७)

मानव जीवन का आधार भौतिक शक्ति है यह सत्य है। किन्तु भौतिक शक्ति का आधार प्राणशक्ति के रूप में आध्यात्मिक शक्ति है।

(४८)

वस्तुतः मानव के प्रत्येक कार्य को उसकी प्रकृति करती है, मानव स्वयं नहीं। किन्तु, यह तथ्य उसी को अनुभव होगा जो परमात्म-सत्ता का यानी उस सत्ता का जिसकी उपस्थिति बिना पत्ता भी नहीं हिलता, अनुभव करने लगे।

(४६)

शक्ति के रूप में प्रकृति की शरण में रहने से कार्य उत्तम होता है। प्रकृति की शरण में जाने का अर्थ है प्रकृति के लिये कर्त्तव्य-पालन करना। प्रकृति के लिये काम करने में अपनापन नहीं आता जिससे काम ठीक-ठीक हो जाता है और रागद्वेष नहीं आता।

(५०)

परमात्म तत्व से प्रेम करने का अधिकारी वह है जो प्रतिकूल विचारों के प्रवाह को हंसते-हंसते सहन करना चाहता है और अनुकूल विचारों के वेग में बहना नहीं चाहता।

(५१)

दिव्यशक्ति की शरण में रहने वाले व्यक्ति निर्विकारी एवं निर्लिप्त होते हैं। वे अन्तर्यामी के अधिक निकट रहते हैं। फलतः वे आनन्दस्वरूप बने रहते हैं। उन्हें इन्द्रियों द्वारा भोगे जाने वाले वासनामय सुखों की आवश्यकता ही नहीं होती। विचारों को सत्वगुणी व्यक्ति का अभिनय करने की आदत पड़ जाती है। उसकी शक्ति रजोगुणी एवं तमोगुणी विचारों में पहिले सत्वगुणी पुट देती है तब उन्हें कार्य करने की अनुमति प्रदान करती है। अन्य स्थितियों में मौन हो जाती है।

(५२)

प्रकृति स्वयं अनुग्रह करके प्रत्येक जीव के कल्याण में रत रहती है। हाँ, इस तथ्य को वही साधक अनुभव करता है जो साधना के मर्म को यथार्थ समझने लगता है। वस्तुतः शक्ति ही उचित मार्गदर्शन देते हुए साधक को दैनिक कार्यक्रम में तल्लीन करती है। अस्तु, शक्ति का कार्य

साधक के शरीर एवं विचारों के माध्यम से ठीक-ठीक होता है। दूसरे शब्दों में शक्ति वर्तमान का उचित निर्माण करती है, भूत की विस्मृति कराती है और भविष्य को उज्जवल बनाती है।

(५३)

यह सत्य है कि जीव को उन्नति की ओर अग्रसर करने में उसकी दिव्यशक्ति ही अपेक्षित है। परन्तु शक्ति का स्वभाव है कि जब जीव शरण में आता है तब ही उसको मार्गदर्शन कराती है अन्यथा जीव को उसके विचारानुसार योनिपरिवर्तन मात्र करा देने में वह संतुष्ट रहती है। अस्तु, जीव चाहे विवश होकर अपनी शक्ति की शरण में आवे अथवा स्वस्थ चित्त से, उसको शरण में आना अवश्य पड़ता है। अस्तु, यह नैसर्गिक क्रम है। इसलिये सत्संग आवश्यक है जिसमें सत्वगुण प्रधान विचार उभरते हैं और जीव अन्तर्यामी सदृश होने को लालायित हो उठता है।

(५४)

मोक्ष का अर्थ है छुटकारा पाना। छुटकारा किससे? राग-द्वेष से अर्थात् अनुकूल विचारों में आसक्त होने से और प्रतिकूल विचारों को हटाने से। प्रायः सुना जाता है कि लोग सूर्य या चन्द्रग्रहण के समय कहते हैं कि इतने बजे यानी इतने घंटे और मिनिट बाद सूर्य या चन्द्र की मोक्ष हो जावेगी क्या उस अवधि के उपरांत सूर्य और चन्द्र गायब हो जाते हैं? कदापि नहीं। वे पूर्ववत् अपने आकार का प्रदर्शन करने लगते हैं। तब मोक्ष किसकी हुई? केवल उस काले आवरण की जिसने सूर्य अथवा चन्द्र के आकार को ढक लिया था। यह काला आवरण ही जिसे अज्ञान अंधकार कहते हैं, मानव मस्तिष्क में परमात्म-सत्ता के अस्तित्व को, जो साक्षी भाव के रूप में सदैव प्रकाशित रहता है, ढके रहता है। जब साधक आत्म-साक्षात्कार कर लेता है तब उसकी समझ में मोक्ष का रहस्य ठीक-ठीक आ जाता है।

(५५)

वस्तुतः साधक की मनोवृत्ति सुख-दुःख, शुभ-अशुभ दोनों के ऊपर रहती है। अस्तु, उसके विचार ज्यों-ज्यों वायुमण्डल में टकरावेंगे त्यों-त्यों ही स्वस्थ वातावरण का निर्माण होगा जिससे अधिकारी महानुभाव प्रेरित होकर लाभ उठावेंगे। स्वस्थ वातावरण निर्माण का मार्ग यही है। समय कितना ही लगे। अटूट धैर्य चाहिये। इसी मार्ग के माध्यम से व्यक्तियों को अपना कल्याण स्पष्टतः अनुभव होगा।

(५६)

साधक जानता है कि मन का स्वभाव चंचल होता है। अस्तु, वह उसे प्रकृति के उचित कर्म करने में लगाता है। जैसे ही निर्बल विचार उभरते हैं वैसे ही वह हितकर स विचारों का चिन्तन करने लगता है। इस प्रकार वह निर्बल वि

(५७)

शारीरिक सभी कष्ट अ स्थाई हैं। अस्तु, साधक कष्टों को दूर करने का उपाय तो करता है किन्तु, कष्टों का चिन्तन नहीं करता। जैसे ही कष्ट की ओर उसका ध्यान जाताा हैवैसे ही वह अन्य आवश्यक कार्यों के विषय में विचार करने लगता है और उन कार्यों के करने में लग जाता है। इस प्रकार वह कष्ट के प्रभव से बहुत कुछ मुक्त रहता है।

(५८)

अच्छा स्वभाव़ बनाने की इच्छा यह प्रकट करती है कि अच्छे बनने के बीज तो व्यक्ति के अन्दर मौजूद हैं और वे अंकुरित होना चाहते हैं। अस्तु, व्यक्ति यदि चाहे तो अपने अच्छे बनने के बीजों को खाद और पानी देकर पनपा सकता है यानी अच्छे वातावरण में रहकर अच्छे संस्कारों को प्रबल बना सकता है।ठीक-ठीक आ जाता है।

(५९)

उत्तरदायित्व की वृद्धि से साधक घबराता नहीं। क्योंकि वह

जानता है कि इस प्रकार साधक के कार्य करने की शक्ति को प्रकृति बढ़ा रही है। वस्तुतः प्रकृति के प्यार करने की यह एक सुन्दर रीति है।

(६०)

साधक के मन में जब किसी व्यक्ति को उपदेश देने की इच्छा उत्पन्न होती है तब वह यह सोचने लगता है कि ये उपदेश तो स्वयं उसी के लिये हैं। उनके अनुसार उसे चलना है। अस्तु, उपदेश के अनुसार जब व्यक्ति स्वयं चलने लगता है तब उस व्यक्ति का जीवन औरों के लिये अनुकरण करने योग्य हो जाता है।

(६१)

मन का स्वभाव चंचल है। उसका आधीन करना कठिन है। जो मन को आधीन करना चाहता है वह मन के चंगुल में और भी जकड़ जाता है यानी मन की चंचलता और भी अधिक हो जाती है। और जो मन को उचित कर्म करने में लगने देता है उसे रोकता नहीं बल्कि प्रसन्नता का ही अनुभव करता है तो उसके आधीन मन स्वयं ही हो जाता है। यानी मन की चंचलता उसे अधीर नहीं बनाती।

(६२)

हम बिना जाने अपने को पापी या पुण्यात्मा कहने लगते हैं। वस्तुतः पाप और पुण्य कर्मों के परिणाम का नाम है। जब प्राणी को अनुभव हो जावेगा कि न तो वह कर्म करता है और न उसने कर्म किये हैं और न वह कर्म करेगा और कर्म का आरोप भ्रम से ही हुआ है तब भ्रम दूर होते ही वह पाप-पुण्य से परे गुणातीत स्थिति में अपने को देखेगा। हाँ, यह अनुभव प्रत्यक्ष आत्म-साक्षात्कार से होता है और जिस साधना से आत्मसाक्षात्कार हो सके वस्तुतः वही साधना है।

(६३)

जीवात्मा के रहने का पवित्र स्थान प्राणी का शरीर है। अतएव प्राणी का धर्म है कि वह उचित आहार बिहार करे यानी न तो भूखा रहे

और न अधिक भोजन करे। ताकि शरीर स्वस्थ रहे। साथ ही, विचारों को पवित्र रखे, यानी तमोगुण सब से कम, रजोगुण उससे अधिक, और सत्वगुण सबसे अधिक और फिर तीनों गुणों से परे भी रहे। यानी साक्षी बन कर कर्म की क्रियाओं का अनुभव करता रहे। "मैं पन" न आने दे। इस " मैं पन" पर प्रकृति का राज्य हो जावे और प्रकृति प्रत्येक कार्य करती अनुभव में आती रहे। इसके लिये ही वस्तुतः साधना एक मात्र आधार है क्योंकि साधना में व्यक्ति साक्षीवत् रहता है और प्रकृति को कार्य करते हुये अनुभव करता है।

(६४)

जीव का यह अज्ञान कि वह कर्म का कर्ता है जब साधना द्वारा हट जाता है तब वह सूर्यवत् सर्वत्र एकसी प्रकाशित आत्मा का अनुभव करता है। ऐसी स्थिति में जीव को मुक्त कहते हैं। सत्य ही, आत्मा को अनुभव करने वाला व्यक्ति मृत्यु के उपरांत नहीं वरन् इसी जीवन में मुक्त हो जाता है। जन्म, मरण कर्म का परिणाम है। कर्म करती है प्रकृति। तब जन्म, मरण की क्रिया प्रकृति की है, जीव की नहीं। जीव केवल अनुमति देने वाला है और कर्म के व्यापार से उसका कोई संबंध नहीं है। ऐसी स्थिति में कर्म के व्यापार का उस पर कोई प्रभाव नहीं होता। इस प्रकार कर्म के व्यापार के परिणामस्वरूप जीवन, मरण से छुटकारा पाना जीव की मुक्ति कहलाती है। चूँकि अज्ञान से ही जीव कर्म का कर्ता अपने को कहता है, अतः अज्ञान से ही वह ऐसा मानता है कि वह जन्म लेता है अथवा मरता है। वस्तुतः जीवात्मा के रूप में न तो उसका जन्म हुआ है और न मृत्यु होगी। शरीर का जन्म प्रकृति के कार्य को करने के लिये होता है और प्रकृति का कार्य समाप्त होने पर शरीर छूट जाता है। सारांश यह है कि मोक्ष का अर्थ है जीवात्मा को प्रकृति के कार्य से, यानी स्थूल व सूक्ष्म शरीर के व्यापार से अपना सम्बन्ध पृथक कर लेना।

(६५)

वैसे तो "महात्मा" शब्द का प्रयोग प्रायः निष्काम कर्मयोगी के लिये किया जाता है जो ईश्वरार्पण बुद्धि से प्रत्येक उचित कार्य करता है, परन्तु वस्तुतः 'महात्मा' शब्द उस साधक के नाम का विशेषण है जो अकर्मी होकर यानी साक्षी रूप में रहकर प्रकृति को स्वाभाविक रूप से कर्म करने देता है यानी प्रकृति के कार्य में अपनेपन का समावेश नहीं होने देता।

(६६)

यद्यपि देश के वर्तमान वातावरण को देखते हुए यह कहना सत्य सा ही प्रतीत होता है कि आजकल मानव आध्यात्मिकता को भूल गया है यदि वस्तुस्थिति पर विचार किया जावे तो यही परिणाम निकलेगा कि आध्यात्मिकता का सही अर्थ न जाने कब से मानव के सामने नहीं आया है। अस्तु, यदि तत्वदर्शी लोग आध्यात्मिकता का असली भाव मानव के सामने प्रस्तुत करें तो ऐसी विषम परिस्थिति में भी जिस व्यक्ति को भी आध्यात्मिक भाव आकर्षित करें यानी जिसे साधक होने की प्रेरणा हो वह बड़ी आसानी से निर्विध्न साधना कर सकता है और अपने जीवन को कौटुम्बिक कर्त्तव्यपालन करते हुए भी जीवनमुक्त सदृश स्थिति में प्रति क्षण रख सकता है।

(६७)

संभव है अधिकांश तत्वदर्शी महात्माओं को परमात्म-सत्ता की अनुभूति कराने में पथ-प्रदर्शकों ने हठयोग का ही आश्रय अधिक लिया हो। फलतः आसन, प्राणायाम, जप-तपादि को साधक बनने की दृष्टि से प्रमुख स्थान दिया गया होगा। यद्यपि इन क्रियाओं द्वारा इन्द्रिय-निग्रह कर वे उत्तरोत्तर आत्म-विश्वास में आगे बढ़े होंगे, किन्तु अभीष्ट सिद्धि फिर भी दूर रही होगी। क्योंकि बलपूर्वक परमात्मशक्ति को वशीभूत करना सरल बात तो थी नहीं। तब कहीं हारकर अनेकों वर्षों के उग्र तपों के

उपरांत वे दुखी होकर यानी आरत भक्त होकर प्रभु की शरण में गये होंगे और तब करुणहृदय, परमात्मशक्ति की उन्हें अनुभूति हुई होगी। अस्तु, जिसको इतनी कठिनाई के बाद साधना सिद्धि की अनुभूति हुई है वह यदि दूसरे को प्रशिक्षण अथवा दीक्षा देगा तो अपना जाना हुआ मार्ग ही बतावेगा। वह मार्ग दुःसाध्य होने से साधारण जनता ने उस मार्ग पर चलने का प्रयास ही नहीं किया। कौटुम्बिक उत्तरदायित्व की अवहेलना करके वैराग्य लेना अस्वाभाविक था। परिणामतः लोग उत्तरोत्तर आध्यात्मिकता से विमुख होते जा रहे हैं। उनके सामने अधिकांश में साधु, संत, महात्माओं द्वारा जो आदर्श प्रस्तुत किया जाता है वह व्यावहारिक सिद्ध नहीं होता। एक दो बिरले ही व्यक्ति उस सत्य पथ के ग्राहक होकर अनुभूति कर पाते हैं। जबकि पेट भरने वाले कायर ही साधुवेश में अधिकांश में दृष्टिगोचर होते हैं।

हाँ,आध्यात्मिकता का स्वरूप जैसा आमतौर से प्रायः पढ़ा जाता है अथवा सुना जाता है उससे भिन्न स्वरूप ही कतिपय महानुभावों के अनुभव में आया। उनके अनुभव ने गुत्थी खोल दी और इस तथ्य को स्पष्टरूप से रख दिया कि मानव शीघ्र ही अपनी परमात्मशक्ति की अनुभूति कर सकता है और संसार के सब कार्य भी उसके द्वारा सुचारू रूप से चलते रहने में किंचित भी कठिनाई नहीं आ सकती। यह मार्ग विशुद्ध प्रेम का है। सब साधन इसके सामने फीके पड़ जाते हैं। हाँ, प्रेम कैसे किया जाय यह रहस्य अवश्य है जिसका कि उद्घाटन तब होता है।जबकि मानव अपने पूरे स्वरूप से परिचित हो जावे। भाव यह है कि वह प्रकृति के कार्य से पूरी तरह परिचित हो जावे। प्रकृति के कार्य को समझने की दो विधियां हैं। एक तो है सैद्धांतिक और दूसरी है व्यावहारिक। सैद्धांतिक ज्ञान तो शक्ति की जानकारी देने वाली पुस्तकों को पढ़ने या समझने से हो सकता है, किन्तु, व्यावहारिक ज्ञान तो शक्ति के दर्शन से ही होता है ।वस्तुतः शक्ति की प्रत्यक्ष अनुभूति को ही कुँडलिनी शक्ति

की जागृति कही जाती है और यही शक्ति आत्मसाक्षात्कार में प्रधान रूप से सहायक है। इसी के बल से साधक की साधना होती है।

(६८)

मानव के शरीर की रचना को समझ लेना ही उसके स्वरूप को जान लेना है। हमारे शरीरिक अवयव यानी आंख,कान,नाक, मुख,हाथ,पैर आदि से बना यह पिंड बाहर से जड़ सदृश है। ये अवयव स्वयं कुछ नहीं कर सकते। क्योंकि जब हमें देखने का विचार आता है। तभी हमारी आंखें देखती हैं, अन्यथा नहीं। हां, विचार उठ आने पर भी वे उठे विचार हाथ,पैर, आंख,कान, आदि से स्वतंत्र रूप से काम नहीं ले सकते जब तक कि हम अपने उठे विचारों को आदेश न दें यानी वैसा करना हम न चाहें। जैसे हमको विचार आया कि हम दीवाल की ओर देखें, अब आंखें दीवाल की ओर तक तक नहीं देखेंगी जब तक कि हम उन्हें देखने के लिये आदेश न दें यानी जब तक कि हम देखना न चाहें। वस्तुतः यह आदेश देने वाला तत्व शरीर और विचारों का मालिक के समान है,यद्यपि मूलतः है वह काल्पनिक नामधारी ही। अस्तु, हम नामधारी मालिक के रूप में आदेश देते रहते हैं। विचार नौकर की तरह से आदेशानुसार काम करते है और इंद्रियों का औजार की भांति उपयोग करते हैं। और जो तत्व नामधारी मालिक के आदेश देने की किया की जानकारी रखता है। और विचारों द्वारा इंद्रियों से काम लेने की क्रिया की भी जानकारी रखता है और जो स्वयं करता कुछ नहीं है उस जानकारी रखने वाले तत्व को अन्तर्यामी,साक्षी अथवा दृष्टा कहते हैं। स्पष्टताः शरीर है मकान और उसमें जो निवास करते है वें है नामधारी मालिक, विचार और साक्षी। हां, प्रत्येक के कार्य भिन्न-भिन्न हैं। शरीर का काम विचार नहीं कर सकते, विचारों का काम नामधारी मालिक नहीं कर सकता नामधारी मालिक का काम साक्षी नहीं कर सकता। सब ही घड़ी के अलग-अलग पुर्जों के सदृश हैं जो सभी उपयोगी हैं। न कोई घटिया है न बढ़िया। इन सब को

अपना-अपना काम करने देने से घड़ी ठीक चलती रहती है। इसी प्रकार नामधारी मालिक, विचार, इंद्रियां एवं साक्षी भी अपना-अपना काम करते रहें तो मानव भी ठीक-ठीक प्रगति करता हुआ शांति का अनुभव कर सकता है। किन्तु अज्ञान से बाह्य वातावरण से प्रभावित होकर नामधारी मालिक अपने को ही कर्ता समझ कर प्रकृति के कार्य में हस्तक्षेप करता रहता है जिससे वह कभी सुखी और कभी दुखी हो जाया करता है। यदि नामधारी मालिक अपने को साक्षी बना ले और ढूंढ़ कर असली मालिक को अपना उत्तरदायित्व दे तो वह साक्षी सदृश होकर सदैव शांत रह सकता है। अस्तु, ऋषियों ने असली मालिक की खोज की। यह असली मालिक है दिव्य शक्ति जिसे आध्यात्मिक जगत में कुँडलिनी शक्ति कहते हैं। यह वही शक्ति है जो वास्तव में शरीर, विचार और इंद्रियों की शुद्ध स्वामिनी है जो साक्षी की अध्यक्षता में काम करती है । इस शक्ति को अपना उत्तरदायित्व देते ही नामधारी मालिक का अस्तित्व केवल साक्षी सदृश हो जाता है और समस्त प्राकृतिक कार्य दिव्यशक्ति के अन्तर्गत सुचारू रूप से चलने लगते हैं ।

(६९)

साधना में व्यक्ति साक्षी सदृश रहता है। प्रकृति कुछ भी कार्य करे उसके कार्य से उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता। इस स्थिति में व्यक्ति अपने को राग-द्वेष रहित जीवन वाला कहता है। राग-द्वेष रहित जीवन ही वह जीवन है जिस जीवन से व्यक्ति को शांताकारं कहा जाता है। यह स्थिति जिस आयु में भी जिस व्यक्ति को आ जावे उसी आयु को उस व्यक्ति की पूर्ण समझदारी की आयु कहते हैं।

(७०)

साधना लेते ही आत्म-साक्षात्कार हो जाता है।तब साधक अपने को कर्म का निमित्तमात्र अनुभव करता है। क्योंकि उसने अपनी स्वीकृति देने की कार्यप्रणाली अब स्वयं से हटा कर प्रकृति (शक्ति) को दे दी है।

अस्तु, अब प्रकृति ही साधक के स्वीकृति देने के काम को अपना उत्तरदायित्व समझती है। फलतः साधक को अनुभव होने लगता है कि प्रकृति यानी शक्ति, विचार और शरीर द्वारा ही समस्त कार्य हो रहे हैं। साधक तो इनके कार्यों का प्रति क्षण अवलोकन करता रहता है। वस्तुतः साधक का व्यवहार साक्षी सदृश हो जाता है। परन्तु जब तक काफी अभ्यास न हो जावे तब तक साधक को स्पष्ट अनुभूति नहीं हो पाती कि वह कार्य कर रहा है अथवा उसकी प्रकृति कर रही हैं। ज्यों-ज्यों अभ्यास की बृद्धि होती जाती है त्यों-त्यों ही साधक को स्पष्ट अनुभव होने लगता है। कि प्रकृति शिक्षित व्यक्ति की भाँति ही प्रत्येक कार्य के पहलू पर विचार करती है, विचार को ठीक-ठीक तौलती है तब कहीं कार्य करने की अनुमति प्रदान करती है। उस स्थिति में प्रत्येक कदम सही रास्ते पर पड़ता है और ठीक समय पर ही उठता है।

(७१)

साधना द्वारा प्रकृति के रूप में दिव्य शक्ति की अनुभूति भावुक साधक को शीघ्र ही हो जाती है। परन्तु साधना के मर्म को समझने में काफी समय अवश्य चाहिये।

(७२)

कोई भी साधना जिसके करने मे कर्त्तापन आता है उस साधना को हठयोग की साधना कहना ठीक है। हठ से शक्ति की अनुभूति करना कठिन है। शक्ति की अनुभूति प्रेम से शीघ्र होती है। वस्तुतः शक्तिरूपा माँ प्रेम की प्रतिमूर्ति है। जिस साधक को शक्ति की प्रत्यक्ष अनुभूति है उसे यह स्पष्ट अनुभव होता है कि वह अपनी माँ की गोद में है। मां की गोद में रहते हुए बच्चे को कोई हानि नहीं पहुंचा सकता। ऐसी साधना में हानि को कोई स्थान ही नहीं है। यदि साधक साधना में बैठेगा तो उसके विकास में उसे सहायता मिलेगी और नहीं बैठेगा तो साधना लेने के पूर्व में वह जैसा था वैसा ही फिर हो जावेगा। साधना के बारे में चर्चा

की जा सकती है किन्तु उसका प्रदर्शन करना उचित नहीं। जो साधक नहीं है वह केवल टीका-टिप्पणी कर सकता है। उसके मर्म को नहीं समझ पाता।

(७३)

प्रकृति के रूप में शक्ति का आदेश समझ लेना साधक का धर्म है। क्योंकि अच्छी तरह से आदेश समझ में आ जाने पर उसके पालन करने में अहंभाव लेशमात्र भी नहीं आता। शरीर में हल्कापन अनुभव होता है। साथ ही किंकर्त्तव्यविमूढ़ स्थिति बिल्कुल नहीं होती। आशा का संचार होता हुआ अनुभव होता है। दैनिक कार्य के सम्पादन करने में उत्तरोत्तर शक्ति की वृद्धि होती रहती है।

(७४)

प्रार्थना तभी होगी जब दो होंगे, एक प्रार्थना करने वाला और दूसरा वह जिससे प्रार्थना की जावे। साधक की दृष्टि में दो का अस्तित्व नहीं। साधक साक्षी की स्थिति में रहकर प्रार्थना कर ही नहीं सकता। हाँ, लौकिक व्यवहार की दृष्टि से प्रकृति के कार्य को "मैं" और "तू" कहकर सम्बोधन किया जा सकता है। अस्तु, प्रार्थना आत्मा की शांति के लिये कोई महत्व नहीं रखती। हाँ, विचारों को प्रभावित करने के लिये वह बाह्य बातावरण निर्माण करने में अथवा कार्य की सिद्धि में किसी हद तक सहायक हो सकती है।

(७५)

एक पुष्प जिसमें अनेक पंखुड़ियाएँ हों उन पंखुड़ियों में से यदि एक पंखुड़ी अपनी अन्य पंखुड़ियों से शुभ कामना के रूप में कोई याचना करे अथवा अपने विविध अंगों के स्वस्थ रहने के लिये प्रार्थना करे तो उसका प्रार्थना करना निरर्थक ही है, विशेष कर जबकि उनके पास सत्ता ही न हो। इसी प्रकार एक साधक भी शुभ कामनाओं की मांग नहीं करता। यदि उसके द्वारा वैसा प्रदर्शन होता है तो साधना लेने से पूर्व के

संस्कारों का ही अभिनय है ऐसा समझा जावे।

(७६)

वस्तुतः प्रत्येक कार्य प्रकृति की सत्ता से हो रहा है। किन्तु, मानव के मस्तिष्क में जन्म से ही ऐसे संस्कार पड़ जाते हैं कि वह यही समझता है कि प्रत्येक कार्य वह ही कर रहा है। यह सब बातावरण का ही प्रभाव है। यह संस्कार यानी "मेरे पन" का भाव विचारों से बड़ी कठिनाई से दूर हो पाता है और मानव "मेरे" "तेरे" के चक्र में पिसता हुआ दुखी होता रहता है। हाँ, जब प्रकृति की अनुकूलता से प्रत्यक्ष आत्म-साक्षात्कार होता है तब यदि मानव चाहे तो बड़ी सरलता से प्रकृति को कार्य करते अनुभव कर सकता है। अस्तु, साधना का वास्तविक अधिकारी वही व्यक्ति है जो प्रकृति को कार्य करते हुए अनुभव करके परम संतोष प्राप्त करे।

(७७)

मानव को जीवित रखने वाली शक्ति नित्य आदरणीय है। आदरणीय व्यक्ति के लिये किया गया कार्य सदैव उचित होना चाहिये। अस्तु, शरणागत साधक का धर्म है कि वह प्रत्येक कार्य दिव्यशक्ति के लिये ही करे।

(७८)

शरणागत साधक की कोई भी निजी कामना नहीं होती। जिसकी कोई कामना नहीं है वह अक्रोधी यानी शांत रहता है। क्योंकि क्रोध की जड़ तो कामना है।

(७९)

शरणागत साधक कर्त्तव्य-पालन से विमुख कभी नहीं होता। हाँ, जहां लोग अपने लिये कर्म करते हैं वहां वह केवल अपनी प्रकृति के लियें ही कर्म करता है । साथ ही वह यह भी समझता है कि वस्तुतः वह तो साक्षी के सदृश है और प्रकृति स्वयं ही उसके द्वारा काम करा रही है।

(८०)

साधक जिस किसी से बात करता है वह सर्व प्रथम उस व्यक्ति में आत्म-तत्व का दर्शन करता है और फिर उसे अपने जैसा ही समझ कर उससे वार्तालप करता है।

(८१)

साधक का परिवार, वह क्षेत्र है जहां प्रकृति ने उसे अनाशक्ति से कर्त्तव्य-पालन करने का प्रशिक्षण लेने भेजा है।

(८२)

प्रकृति का कार्य सदैव ठीक होता है। हाँ, इतना अवश्य है कि जनसाधारण यह नहीं समझ पाता कि कौन सा कार्य कब होगा और कैसे होगा। अस्तु, साधक न तो भूत की चिंता करता है और न भविष्य के स्वप्न देखता है। उसका लक्ष्य तो सदैव वर्तमान को प्रकृति द्वारा निर्माण होते हुए देखना है। फलतः जो भूत बनने जा रहा है और जो भविष्य बनने वाला है दोनों ही सुन्दर बनते रहेंगे।

(८३)

साधना की प्रत्येक क्रिया से शरीर और विचारों को स्वस्थ बनाया जाता है। शरीर निरोगी होता है और ज्ञान की वृद्धि होती है। यदि साधना में अंधकार और उजाला दिखाई देता है तो प्रकाश से अभिप्राय सुख से है और अंधकार से अभिप्राय दुख से है। इन दोनों का साथ रहने का स्वभाव है। ये पृथक नहीं हो सकते। इन्हें समान समझना चाहिये। और इनकी उपस्थिति सर्वत्र है ऐसा जानना चाहिये। जब अंधेरे का ध्यान आता है तब प्रकाश का ध्यान गौण हो जाता है पर उसका अस्तित्व रहता है और जब प्रकाश का ध्यान आता है तब अंधेरे का भाव गौण रहता है।

साधना में खड़े होकर नाचना अथवा खड़े रहने से अभिप्राय यह है कि कभी तो साधक संसार में घूमने लगता है यानी पूर्व संस्कार के

वशीभूत होकर आसक्ति से काम करने लगता है और कभी नवीन अर्जित संस्कार से प्रेरित होकर अनासक्ति से काम करने लगता है।

साधना में जब साधक को यह अनुभव होता है कि अंधकार व उजाले में सारा ब्रह्माण्ड है और वह ब्रह्माण्ड में समाया हुआ है तब इससे यह अभिप्राय है कि साधक का साक्षी-भाव तो उजाला है और उसकी परा एवं अपरा प्रकृति अंधकार है। समष्टि में साक्षी-भाव और समष्टि में प्रकृति मिलकर अखिल ब्रह्माण्ड है जिसमें समस्त प्राणियों के साक्षीभाव और प्रकृति के रूप समाये हुये हैं। चूंकि साधक की दृष्टि से वह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का अविभाजित अंग है, अतः वह ब्रह्माण्ड में समाया हुआ है ऐसा अनुभव होना यथार्थ है।

साधना में छोटी जीभ (काग) से कड़वा रस जो निकलता है वह मस्तिष्क के भीतरी भाग का विकार है। प्रकृति इस विकार को निकालकर पेट में पहुंचाती है और मलमूत्र द्वारा निकालकर मस्तिष्क को शुद्ध करने में योग देती है।

(८४)

साधना और सत्संग दोनों ही अत्यन्त आवश्यक हैं। सत्संग में शंकायें निर्मूल होती हैं और साधना से कर्त्तव्यारूढ़ होने में बल प्राप्त होता है।

(८५)

शारीरिक कष्टों को पूर्णतः टाला नहीं जा सकता। हाँ, कष्ट कम से कम अनुभव होगा यदि साधक प्रथम दिन की साधना के समय प्रकृति के रूप में भगवती को दिये गये अपने वचनों को दैनिक स्मरण रखे। अपने वचनों के स्मरण होते ही साधक स्वतः ही अनुभव करने लगेगा कि उसके हाथ, पैर आदि अवयव प्रकृति के हैं। और यदि उनमें दर्द है तो वह दर्द ऐसा अनुभव होगा मानो कि वह दर्द उसके पड़ोसी का है। उसके दृष्टिकोण से दर्द अवश्य अनुभव हो रहा है पर वह दर्द उसका

तो है ही नहीं। तब शीघ्र ही साधक के सत्संग में पड़े संस्कार जागृत होने लगेंगे और उसे अपना दर्द क्षणभंगुर अनुभव होगा। वह यथार्थ स्थिति का अनुभव करेगा कि वस्तुतः पैर में चोट लगने से अनेक जीवित कोषायें मर गई हैं और रक्त का प्रवाह दूषित हो गया है। अब प्रकृति के द्वारा मृतक कोषाओं को हटाया जा रहा है और उनके स्थान पर जीवित कोषाओं को लाया जा रहा है। और जब शुद्ध रक्त प्रवाहित होने लगेगा तब त्वचा ठीक हो जावेगी। इस प्रकार प्रकृति सब कुछ ठीक ही कर रही है। इस विचारधारा से साधक को कष्ट की मात्रा कम हुई अनुभव होगी और वह सहज ही अपनी चित्तवृत्ति को अन्य उपयोगी कामों में लगा सकेगा। फलतः साधक को कष्ट सहन करने में विशेष प्रकार का संतोष अनुभव होगा।

(८६)

साधक के साधना करते समय यदि साधना संबंधी चर्चा का वातावरण हो तो शक्ति का प्रवाह अधिक वेग से बहेगा, इसमें सन्देह नहीं। यदि साधक शक्ति के वेग के समय कार्यवश उठना चाहता है तो थोड़ी देर रुक कर उठ सकता है। उठने के बाद यदि वह जिन कामों को करता है उनका विचार करने लगे तो शक्ति का वेग धीरे-धीरे कम हो जावेगा। इस प्रकार चित्तवृत्ति को दूसरी ओर मोड़ देना ही वेग कम कर देने की युक्ति है।

(८७)

शरणागत छात्र यानी जो विद्यार्थी साधक हो गया है वह न तो अभ्यास करते समय और न परीक्षा देते समय कमजोरी प्रकट करता है। और न प्रसन्नता। इन दोनों बातों से शक्ति के स्वभाविक रूप से कार्य करने में हस्तक्षेप होता है। जब साधक शांत चित्त से अभ्यास करता है तब अभ्यास में आई बातों के स्मृति-चिन्हों के अस्तित्व भली प्रकार से साधक के मस्तिष्क में विद्यमान होजाते हैं। आवश्यकता पड़ने पर उसी

संचित पाठ्य सामग्री को शक्ति ठीक-ठीक प्रयोग में लाकर साधक को सफल बनाने का प्रयास करती है। अस्तु, सफलता के लिये यह आवश्यक है कि अभ्यास द्वारा पाठ्य सामग्री का भण्डार समुचित मात्रा में हो। वस्तुतः शक्ति संचित भण्डार का सदुपयोग करती है।

(८८)

साधक ध्यान रखे कि जो भी अवांछनीय घटनायें उसके बिना जाने घटित हो जाती हैं वस्तुतः वे उसे सावधान करने के लिये ही घटित होती हैं। क्षमा याचना आदि व्यक्त करना केवल लौकिक शिष्टाचार के लिये है। दूसरे शब्दों में भूलें पश्चाताप प्रकट करने के लिये ही नहीं है। बल्कि वे साधक को सुधारने के लिये होती हैं। वस्तुतः व्यक्ति को ठीक करने का यह प्रकृति का अनूठा ढंग है।

(८९)

एक व्यक्ति का कार्य जब किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा पूर्ण हो जाता है तब जिसका मनोरथ सिद्ध हुआ है उसका ममत्व जिसके द्वारा काम सिद्ध हुआ है उस पर हो जाता है। किन्तु कार्य सम्पादन का काम तो प्रकृति का है यह ध्यान आते ही मानव उस सिद्ध हुए कर्म का साक्षी बन जाता है। फलतः ऐसे व्यक्तियों के मिलने में गुणानुवाद का अभाव हो जाता है। जब वे एक दूसरे से मिलते हैं तब उनके मिलने में स्वाभाविक प्रेम व्यक्त होता है। उस प्रेम में उपकार की गंध नहीं होती।

(९०)

जीवन संघर्षमय है। यदि संघर्ष न रहे तो जीवन का अस्तित्व ही नहीं। अस्तु, साधक संघर्ष से व्यथित नहीं होता। अत्यन्त धैर्य से वह ऐसी विचारधारा को पुष्ट करता है जिससे प्रकृति अनुकूल वातावरण निर्माण कर विषम परिस्थिति पर नियंत्रण करने लगे। वस्तुतः वह प्रकृति को ही कार्य करने की अनुमति दे देता है। यानी स्वयं उसके कार्य में किंचित भी हस्तक्षेप नहीं करता। यह वही तथ्य है जिसका कि अभ्यास साधना के

व्यावहारिक रूप में होता है। साधना की मनोवृत्ति का प्रभाव दैनिक कार्यों के करने में भी पड़ता है। साधक प्रत्यक्ष रूप से तो काम करता हुआ दिखाई देता है किन्तु, उसका मानसिक दृष्टिकोण बदल जाता है। वह स्वयं अपने को कर्म का कर्ता नहीं समझता। प्रकृति को ही कर्म की कर्तृ समझता है। सत्य ही, मानव और मानव की प्रकृति इन दोनों के अस्तित्व पृथक-पृथक हैं जब मानव अपनी प्रकृति के संबंध में यह विचार व्यक्त करता है कि यह कार्य उसकी प्रकृति का है तब प्रकृति उसकी सम्पत्ति का रूप धारण कर लेती है और मानव अपने अस्तित्व को प्रकृति से पृथक अनुभव करता है। अस्तु, संघर्ष वस्तुतः प्रकृति में है, उसमें नहीं। वह तो नित्य आनंदस्वरूप है।

(६१)

साधक जब किसी कठोर परीक्षा में सफल होता है तब उसे अहंकार हो जाताा है जिसके कारण वह अपने मस्तिष्क के संतुलन को खो देता है। यदि साधक प्रकृति को सफलता का श्रेय देता है तो उसमें अहंकार की भावना उत्पन्न नहीं होगी। फलतः बुद्धि संतुलन में रहकर उत्तमता से कर्त्तव्य-पालन करती रहेगी।

(६२)

साधक के जीवन में ऐसे अनेक प्रसंग आये होंगे जबकि उसके द्वारा किये गये सहायता के कार्यों से अनुग्रहीत होकर कृतज्ञ लोगों द्वारा उसका आभार प्रदर्शित किया गया होगा। आभार प्रदर्शित किये जाने पर परोपकारी साधक की शांति अनुभव अवश्य हुई होगी परन्तु क्या यह शांति स्थायी थी? कदापिं नहीं। वह तो क्षण भर के लिये आई और चली गई। स्थायी शांति तो तभी आती है जब साधक स्वयं को कर्मों का साक्षी अनुभव करता है और प्रकृति को कर्म की कर्तृ मानता है जैसा कि वास्तव में साधक को साधना में अनुभव होता है।

(६३)

जब साधक अपनी दिव्यशक्ति से प्रेमपूर्वक प्रार्थना करता है कि उसके स्वीकृति देने के उत्तरदायित्व को भी वह उससे ले ले और उसके विचारों को उस सांचे में ढाले जिससे वह राग-द्वेष से रहित होकर जगत का काम करने लगे तब शक्ति भी साधक की प्रेममयी वाणी को स्वीकार कर उसे अपनी प्रत्यक्ष अनुभूति करा कर उसके उत्तरदायित्व को अपने ऊपर ले लेती है, साथ ही उसे दृष्टा के सदृश आनन्दमय बना देती है।

(६४)

साधना लेने के उपरांत साधक की स्थिति ऐसी होती है कि उसके स्थान पर उसकी दिव्य-शक्ति उसके विचारों को स्वीकृति दे देती है कि वे शरीर के अवयवों से काम लें। तब विचार उनसे काम लेते हैं। चूँकि दिव्यशक्ति और साधक के अपनेपन के भाव दोनों ही शरीर के भीतर ही हैं। और वे इतने घुले मिले हैं कि साधक जब सावधानी से विचार करे तब ही अनुभव कर सकता है। वैसे साधना के समय अवश्य ही वह अपने को दिव्यशक्ति की क्रिया का साक्षी अनुभव कर सकता है।

(६५)

दिव्यशक्ति कोई गलत काम नहीं करती। अतः यदि गलत काम को साधक दिव्य शक्ति का कहता है तो यह उसकी भूल है। वस्तुतः ऐसी स्थिति में साधक बिना जाने अहंभाव के वशीभूत हो जाता है और शक्ति को काम करने की स्वीकृति की सत्ता जो उसने दी थी उसे वह वापिस ले लेता है। अतः प्रत्येक कार्य शक्ति कर रही है, यह एक क्षण को भी नहीं भूलना है। बिना प्रयत्न के स्वयमेव विश्वास होना ही वांछनीय है। जैसे बालक अपने पिता को बिना प्रयत्न के ही जानता है कि अमुक पिता का वह बालक है वैसे ही शक्ति को मां समझने में कोई आपत्ति नहीं। इतनी समझ आई कि फिर शक्ति के द्वारा समस्त करने योग्य कार्य ऐसे होंगे जो उत्तरोत्तर प्रगति की ओर अग्रसर होते दिखेंगे।

(९६)

निश्चित ही निर्माण कर्तृ शक्ति की शरणागति में प्राणी के कार्य सुचारू रूप से चलते हैं। मानव जब, "मैं कर रहा हूँ, या मैं करता हूँ" कहता है तभी फर्क आता है, अन्यथा नहीं। साधक जब आत्म-साक्षात्कार करके दैनिक साधना करता है तब उसे साधना में स्पष्ट विदित हो जाता है कि शरीर का धर्म क्या है, विचारों का धर्म क्या है, बाहरी विचार किस प्रकार भीतरी विचारों को प्रभावित करते हैं, जीवात्मा का क्या धर्म है, साक्षी के रूप में सच्चिदानंद कैसे प्रेरणा देता है इन सब क्रियाओं का उत्तरदायित्व प्राण शक्ति कैसे अपने ऊपर लेकर जीव को जीवनमुक्त करके सच्चिदानन्द की स्थिति में ला देती है।

(९७)

अपने अन्दर की शक्ति का आदेश समझ लेना साधक का धर्म है। क्योंकि आदेश अच्छी तरह समझ में आ जाने पर उसके पालन करने में अहंभाव लेशमात्र भी नहीं आता। शरीर में हल्कापन अनुभव होता है। साथ ही किंकर्त्तव्यविमूढ़ स्थिति बिल्कुल नहीं आती जिससे आशा का संचार होता है और शक्ति के दैनिक कार्य करने में साधक उत्तरोत्तर उत्साहित होता रहता है।

(९८)

साधक केवल निमित्त मात्र होता है। उसके स्थान पर निर्माण कर्तृ शक्ति स्वीकृति देती है। उसकी स्वीकृति से विचार शरीर से काम लेते हैं और साधक शक्ति के कार्य का प्रति क्षण अवलोकन करता रहता है। अस्तु, जीवात्मा (साधक) का व्यवहार साक्षी सदृश हो जाता है। परन्तु, अभ्यास न होने से साधक को स्पष्ट अनुभूति नहीं हो पाती कि वह कार्य कर रहा है या उसकी शक्ति यानी प्रकृति। ज्यों-ज्यों अभ्यास बढ़ता जाता है त्यों-त्यों ही साधक स्पष्ट अनुभव करने लगता है कि प्रकृति शिक्षित व्यक्ति की भांति ही प्रत्येक विषय पर विचार करती है और उसे

ठीक-ठीक तौलती है तब कहीं कार्य करने की स्वीकृति प्रदान करती है। इस स्थिति में प्रत्येक कदम सही रास्ते पर पड़ता है। और ठीक समय पर उठता है।

(९९)

साधक और साधक की प्रकृति के शरीर पृथक-पृथक नहीं होते। "साधक का शरीर ही प्रकृति का शरीर है, साधक के विचार ही शक्ति के विचार हैं और साधक की स्वीकृति देने की क्रिया भी शक्ति की ही क्रिया है," इस विचारधारा की बारम्बार आवृत्तियों से प्रकृति का आदेश स्पष्ट समझने की योग्यता आ जाती है।

(१००)

साधना में दैनिक बैठने से मन की एकाग्रता सरलता से होने लगती है। साधक सर्वत्र समदृष्टि रख सके, ऐसा अभ्यास स्वतः ही होना आरंभ हो जाता है। कर्त्तव्यमार्ग में साहस एवं धैर्य से प्रगति की ओर अग्रसर होने के साधक को संकेत मिलने लगते हैं। अन्ततोगत्वा साधक का अभ्यास बढ़ाते-बढ़ाते शक्ति इस सीमा तक पहुंचा देती है कि उसे प्रत्येक कार्य साधनामय अनुभव होने लगता है।

महात्मा श्री नारायणदास जी प्रणीत ग्रन्थ

1. गीतामृत (जीवन यापन की कला)
(प्रथम भाग अध्याय 1 से 6)
2. गीतामृत (जीवन यापन की कला)
(द्वितीय भाग अध्याय 7 से 12)
3. गीतामृत (जीवन यापन की कला)
(तीसरा भाग अध्याय 13 से 18)
4. रामचरित मानस के 10 प्रसंग
5. रामचरित मानस के 10 रहस्य
6. साधक शंका समाधान
7. साधक प्रश्नोत्तर शतक (प्रथम)
8. साधक प्रश्नोत्तर शतक (द्वितीय)
9. साधक विचार प्रगति
10. साधक साधना (भजन)
11. जैसे मैंने सीखा
(अनुभूति से पूर्व की मेरी जीवन घटनायें)
12. कुण्डलिनी (व्यक्तिगत अनुभव)
13. आत्मबोध
14. Realisation of the Self (English)
15. साधना
16. स्वशक्ति साधना का संक्षिप्त परिचय
17. दिव्यशक्ति बोध (भजन)
18. वचनामृत
19. बुद्धि विकास
20. बापू के एकादश वृत
21. ईशावास्योपनिषद् (व्यक्तिगत दृष्टिकोण)
22. मानव विकास की पूर्णता
23. कुण्डलिनी का जीवन में उपयोग (सजिल्द)
24. रामचरित मानस में कुण्डलिनी (व्यक्तिगत अनुभव)
25. मैंपन का विवेचन (व्यक्तिगत अनुभव)

प्रकाशक- नारायण आध्यात्मिक ट्रस्ट शिवपुरी

मुद्रक- मुकेश प्रेस, शिवपुरी (म.प्र.) फोन -(07492) 232104